* श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः *

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः

नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मासुप्रसीदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो, श्रम व्यर्थ सभी, केवल बंधनकर ॥

वर्ष ८ | गौराब्द ४७६, मास—नारायण ५, वार—वासुदेव
रविवार, ३० अग्रहायण, सम्वत् २०१९, १६ दिसम्बर १९६२ | संख्या ७

श्रीश्रीकृष्णस्तोत्रम्

[श्रीपृथ्वीदेवी-कृतं]

(श्रीमद्भागवत दशम स्कन्धके ५९ वें अध्यायसे)

अस्तौषीदथ विश्वेशं देवी देवार्चितम् ।
प्राञ्जलिः प्रणता राजन् भक्ति प्रवणया धिया ॥२४॥

नमस्ते देवदेवेश शंखचक्रगदाधर ।
भक्तेच्छोपात्तरूपाय परमात्मन् नमोऽस्तु ते ॥ २५ ॥

नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने ।
नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये ॥ २६ ॥

नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय विष्णवे ।
पुरुषायादिबीजाय पूर्णबोधाय ते नमः ॥ २७ ॥

अजाय जनयित्रेऽस्य ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।
परावरात्मन् भूतात्मन् परमात्मन् नमोऽस्तु ते ॥ २८ ॥

त्वं वै सिसृक्षु रज उत्कटं प्रभो तमो निरोधाय बिभर्ष्यसंवृतः ।
स्थानाय सत्वं जगतो जगत्पते कालः प्रधानं पुरुषो भवान् परः ॥ २९ ॥
अहं पयो ज्योतिरथानिलो नभो मात्राणि देवा मन इन्द्रियाणि ।
कर्त्ता महानित्यखिलं चराचरं त्वय्यद्वितीये भगवन्नयं भ्रमः ॥ ३० ॥
तस्यात्मजोऽयं तव पादपङ्कजं भीतः प्रपन्नार्तिहरोपसादितः ।
तत् पालयैनं कुरु हस्तपङ्कजं शिरस्यमुष्याखिलकल्मषापहम् ॥ ३१ ॥

अनुवादः—

महाराज परीक्षित ! (श्रीकृष्णके हस्तस्थित सुदर्शन चक्र द्वारा नरकासुरके मारे जाने पर) पृथ्वी देवी बड़े-बड़े देवताओंके द्वारा पूजित विश्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम कर हाथ जोड़कर भक्ति भावसे भरे हृदयसे उनकी स्तुति करने लगी ॥२४॥

पृथ्वीदेवीने कहा—हे शंख-चक्र-गदाधारी देव-देवेश ! मैं आपको नमस्कार करती हूँ । परमात्मन् ! आप अपने भक्तोंकी इच्छापूर्ण करनेके लिये उसीके अनुसार रूप प्रकट किया करते हैं । मैं आपको नमस्कार करती हूँ ॥२५॥

प्रभो ! आपकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ है । आप कमलकी माला पहनते हैं, आपके नेत्र कमलके समान खिले हुए और शान्तिदायक हैं । आपके चरण कमलके समान सुकोमल और भक्तोंके हृदयको शीतल करनेवाले हैं । ऐसे आपको मैं बार-बार नमस्कार करती हूँ ॥२६॥

आप समग्र ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री (रूप), ज्ञान और वैराग्य युक्त भगवान हैं, सर्वव्यापक होने पर भी स्वयं वसुदेवनन्दन हैं, मैं आपको नमस्कार करती हूँ । आप ही पुरुष हैं और समस्त कारणोंके भी कारण हैं । आप स्वयं पूर्णबोध हैं । मैं आपको प्रणाम करती हूँ ॥२७॥

आप स्वयं तो जन्म रहित हैं, परन्तु इस जगत् के जन्मदाता हैं; आप उत्कृष्ट या अपकृष्ट—सभी जीवोंके परम आत्मा-स्वरूप है, हे भूतात्मन् ! आप ही अनन्त शक्तियोंके आश्रय ब्रह्म हैं । मैं आपको नमस्कार करती हूँ ॥२८॥

प्रभो ! जब आप जगत्की रचना करना चाहते हैं, तब उत्कट रजोगुणको और जब इसका प्रलय करना चाहते हैं तब तमोगुणको तथा जब इसका पालन करना चाहते हैं, तब सत्व गुणको स्वीकार करते हैं । परन्तु यह सब करने पर भी आप इन गुणोंसे ढकते नहीं, लिप्त नहीं होते । जगत्पते ! आप ही काल, प्रकृति और पुरुष हैं तथा उन तीनोंसे परे भी हैं ॥२९॥

भगवन् ! मैं (पृथ्वी), जल, अग्नि, वायु, आकाश, पंचतन्मात्राएँ, मन, इन्द्रिय और इनके अधिष्ठातृ-देवता, अहंकार और महत्तत्त्व—कहाँ तक कहूँ, यह सम्पूर्ण चराचर जगत् अद्वितीय स्वरूप आपमें ही स्थित है । इन सब पदार्थोंमें स्वतंत्र-वस्तुकी प्रतीति भ्रमात्मक है ॥३०॥

शरणागतोंके दुःखको दूर करनेवाले प्रभो ! मेरे पुत्र भौमासुरका यह पुत्र भगदत्त अत्यन्त भयभीत हो रहा है । मैं इसे आपके चरण-कमलोंकी शरणमें लायी हूँ । आप इसकी रक्षा कीजिए और इसके सिर पर अपना वह कर-कमल रखिए जो सारे जगतके समस्त पाप-तापोंको नष्ट करनेवाला है ॥३१॥

श्रीभक्ति मार्ग

अभक्ति-मार्गका संक्षिप्त परिचय पिछली संख्या के "अभक्ति-मार्ग"-शीर्षक लेखमें मैंने दिया है। यहाँ श्रीभक्ति-मार्गके सम्बन्धमें पाठकवर्गसे कुछ निवेदन कर रहा हूँ।

अप्राकृत इन्द्रियों द्वारा अप्राकृत कृष्णका अनुशीलन ही भक्ति है। जो अभक्तिका मार्ग नहीं है और जिस पथमें अनुकूल अप्राकृत कृष्ण-सेवाकी बातें हैं, वही शुद्ध भक्तिका पथ है। अनुकूल कृष्ण अनुशीलन कहनेसे कृष्णसे इतर अभिलाषा नामक प्रतिकूल मायिक विषय भोगको परित्याग कर शुद्ध-जीवोंके हरि-सेवन वृत्तिका बोध होता है अर्थात् प्रकृतिसे अतीत अप्राकृत-वस्तु जीव अप्राकृत उपादान से अप्राकृत-वैकुण्ठ कृष्णका अप्राकृत अनुशीलन करता है। उस भक्तिमें वैकुण्ठेतर जड़ मायाकी कोई उपयोगिता नहीं होती। नारद-पंचरात्रमें कहा गया है कि शुद्ध जीवकी अप्राकृत इन्द्रियों द्वारा अप्राकृत इन्द्रियाधिपति कृष्णके तत्परत्वसहित अर्थात् अनुकूल भावसे सर्वोपाधिमुक्त सेवन या अनुशीलनको भक्ति कहते हैं।

माया और वैकुण्ठके धर्मोंमें पार्थक्य

मायाका धर्म जीवको भोगोंमें प्रवृत्त कराना है, किन्तु वैकुण्ठका धर्म भक्ति है जो जीवको कृष्ण-दास्यमें नियुक्त करती है। मायाका धर्म—प्राकृत अर्थात् भोगी जीवोंको इन्द्रिय तृप्तिकर होता है और मायातीत वैकुण्ठ-धर्म—अप्राकृत अर्थात् कृष्णेन्द्रियों को प्रीतिदायक होता है, अथवा कृष्णके अप्राकृत रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्शादि विषयोंमें शुद्ध जीवकी अनुभूतिको वैकुण्ठ-धर्म कहते हैं। शुद्ध-जीवका इन्द्रिय-समूह दुराशावश व्यतिरेक भावसे मायाके बाह्य विषयोंमें नियुक्त होनेसे उसका (जीवका) भोक्ताभिमान प्रबल होता है एवं तभी उसके स्वरूप की विभ्रान्ति होती है। वह नित्य कृष्णदास्य को भूल कर मायाके आश्रयमें मा=नहीं या निन्दनीय, या=जो, अर्थात् माया=जो कृष्ण नहीं है अथवा 'मियते अनया' अर्थात् बाह्य-वस्तुका भोक्तृत्व अवलम्बन कर प्राकृत अभिमानमें नित्य संसार-भोग का पथ ग्रहण कर अपने भोग्य-विषय—प्रकृत रूप-रसादिका परिमाण (मापतौल) करनेमें व्यस्त रहता है। शुद्ध-जीवका इन्द्रिय-समूह जब अनुकूल भावसे कृष्ण-प्रीतिके उद्देश्यसे कृष्णकी इन्द्रियोंकी सेवामें नियुक्त होता है तब जीवका अप्राकृत भोग्य अभिमान प्रबल होता है, जिसे भोगीजन निर्बुद्धिता कह कर नितान्त घृणा करते हैं, क्योंकि इसमें भोक्ता की स्वार्थपरता का सम्पूर्ण रूपसे निषेध होता है। अप्राकृत इन्द्रियों द्वारा कृष्ण-सेवाकी यह वृत्ति ही जीवके स्वरूपको उपलब्ध कराती है।

नीलकंठीय भक्ति या मायाका भजन भक्ति नहीं

दक्षिण भारतके नीलकंठीय-शैव-विशिष्टाद्वैतवाद की भक्ति और किसी शुद्ध भक्त या रामानुजीय विशिष्टाद्वैतवादकी भक्ति एक नहीं। दोनोंमें आकाश-पातालका अन्तर है। जहाँ पर शुद्ध जीवा-

नुभूति अपवर्ग लाभ कर वैकुण्ठ वस्तु भगवान्‌को भोक्ता जाननेके बदले अपना भोग्य समझती है, उसे दूसरे शब्दोंमें प्राकृत भोग अथवा अवैष्णव-धर्म कहते हैं। वहाँ मायाके साथ भगवान् योष (नारी) और जीव पुरुष होता है। अवैष्णवोंकी रुचिके अनुकूल मायाको 'कृष्ण' संज्ञा देकर—मायाके भजन से ही प्राकृत सहजिया, थियोसफी, बाउलादि धर्मोंकी उत्पत्ति हुई है, यह वैष्णवोंका भक्ति-धर्म नहीं है।

उपास्य तत्त्वमें मातृत्वका आरोप भक्ति नहीं

श्रीमन्महाप्रभुने प्रेम-भक्तिके सिलसिलेमें जिन दास्यादि रसोंका उपदेश दिया है उनमें अवैष्णवोंके उपास्य मातृत्वका आरोप कृष्णमें कहीं भी नहीं किया गया है, क्योंकि वैसी स्थिति भक्ति-धर्मका प्रतिकूल विषय है। मायावादी मौखिक रूपसे गौर-भक्त बन कर श्रीकृष्णमें मातृत्व या कृष्णके साथ मायाकी एकताका आरोप कर भक्ति-धर्मका पथ भूल बैठते हैं।

प्राकृत सहजिया:—(१) प्राकृत पुरुष देहमें योषित्-कल्पना

प्राकृत सहजिया (Anthropormorphists) कृष्णलीलाका अनुकरण कर अपनी प्राकृत भोगमय इन्द्रिय-सुखकर प्रवृत्तिको ही भक्ति समझते हैं। प्राकृत सहजिया दो प्रकारके होते हैं। जो प्राकृत इन्द्रिय - तृप्तिपरायण होकर कर्म-फलके अनुसार प्राकृत पुरुष-शरीर धारण करके भी अपनेको योषित् (नारी) कल्पना कर स्थूल भोगोंमें आसक्त हैं एवं योषित् गुरु पर कृष्ण होनेका आरोप कर अपनेको भाव-मार्गमें अवस्थित समझते हैं तथा प्राकृत जड़ सम्भोगको हरिलीलाका प्रकार भेद समझते हैं वे एक प्रकारके सहजिया हैं।

प्राकृत सहजिया:—(२) स्त्रैण गृहव्रत-धर्म द्वारा कृष्ण-प्रेम लाभ

दूसरे प्रकारके सहजिया सम्प्रदायका कहना है कि भोग्या स्त्री मात्र ही अप्राकृत हैं और भोक्ता पुरुष मात्र ही अप्राकृत हैं। स्त्रैणभावका पोषण करते हुए गृहव्रत-धर्मका पालन करनेसे ही पुरुषोंका प्राकृतत्व कम होते - होते क्रमशः कृष्ण-प्रेम उदित होता है। इनके मतमें परमहंस वैष्णव गृहव्रत नहीं होनेके कारण वैधी साधन-भक्त-श्रेणीके निम्नस्थ अधिकारी हैं तथा इन साधकोंको कृष्ण-प्रेमकी उपलब्धि नहीं होती। पवित्र हरि-सेवा-रत गृहस्थ वैष्णवोंको ये लोग अपनी तरह गृहव्रत समझते हैं। स्त्रैण हुए बिना शुद्ध गृहस्थ वैष्णवगण हरिभजन कैसे कर सकते हैं—वे इसे समझना नहीं चाहते। वे कृष्णके संसारके समस्त अर्थको केवल अपनी बहिर्मुखी विषय-प्रवृत्ति चरितार्थ करनेके उद्देश्यसे व्यय करते हैं तथा स्त्री-पुत्रादिकी माया-ममतामें आत्म-बलिदान किया करते हैं।

गृहस्थ वैष्णवोंका वैराग्य और स्त्रैण विषयीका संभोग-रस एक नहीं

झड़ठाकुर या श्रीवासादिकी शुद्ध - भक्ति, रामानन्दरायका सुतीव्र वैराग्य, श्रीमन्महाप्रभुके भक्तोंका कृष्णेतर विषयोंसे वैराग्य-प्रधान भाव और महाप्रभुके संन्यासका कारण समझनेमें अक्षम होकर ये अपने गृहव्रत-धर्मके पालन और निज-निज इन्द्रिय तर्पण करनेमें ही आनन्द लाभ करते हैं। हरिभक्ति

के नाम पर इन्द्रिय-तर्पण (विषय-भोग) करने में खूब आनन्द लूटते हैं। स्त्रैण-विषयी लोग स्वजाति, स्वदेश और स्वदल में रह कर रसगान सुनकर भक्ति को पार्थिव माटिया (Material idea) अथवा प्राकृत समझ कर शुद्ध गृहस्थ वैष्णवोंके चरणोंमें अपराधी होते हैं। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर आनन्दसे गद् गद् होकर 'मतिर्न कृष्णे' श्लोक त्रय द्वारा इन विचारों को खूब ही सुन्दररूपसे विश्लेषण कर समझाते थे। अपने सुखके लिये संभोग-रसके उदय होने पर तादृश आनन्दके प्रति भक्तोंका महाक्रोध होता है। श्रीचैतन्य चरितामृत, आदिलीला, चतुर्थ परिच्छेदके २०१ संख्यक पयारमें कहा गया है—

निज प्रेमानन्दे कृष्ण सेवानन्द बाधे।
से आनन्देर प्रतिभक्तेर हय महाक्रोधे॥

(कृष्ण-सेवानन्दमें बाधा प्रदान करनेवाले निजानन्दके प्रति भक्तोंका महाक्रोध उत्पन्न होता है।)

अङ्गस्तम्भारम्भमुत्तुङ्गयन्तं--
प्रेमानन्द दारुको नाभ्यनन्दत्॥
कंसारातेर्वीजने येन साक्षादक्षो-
दीयानन्तरायो व्यधायि॥ *
(भक्तिरसामृतसिन्धु, प० वि०—
२ तीय लहरी २३ श्लोक)

आर शुद्ध भक्त कृष्ण प्रेम-सेवा बिने।
स्वसुखार्थं सालोक्यादि ना करे ग्रहणे॥
(चै० च० मा० ४। २०४)

(शुद्ध भक्त कृष्ण-प्रेम सेवाको परित्याग कर आत्म-सुखके लिये सालोक्यादि चतुर्विध मुक्ति भगवान्के द्वारा दिये जाने पर भी ग्रहण नहीं करता।)

आत्यन्तिक भक्तियोग

श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कंधमें कहा गया है कि श्रीकपिलदेव अपनी मातासे बोले कि जिनके हृदय में अहैतुकी और विघ्नरहित कृष्ण-भक्ति उदित हुई है, उन्हें मेरे साथ समलोक, समरूप, समैश्वर्य और मेरा सामीप्य लाभ-इन चार प्रकारकी मुक्ति-संभोग देने पर भी वे उसे ग्रहण नहीं करते। वे केवल मेरी सेवा प्रार्थना करते हैं। यही आत्यन्तिक भक्ति योग है।

रागानुगा भक्तिका साधन और परिचय

भक्ति-रसकी पराकाष्ठा गोपी-प्रेममें है। वह प्राकृत और कामगंधहीन होता है। चरितामृतकी कतिपय कविताएँ इस विषयमें रागानुगीय भक्ति-साधकोंके निदर्शन स्वरूप हैं। इस अपूर्व भाव-समूह से पराङ्मुख होकर कोई भी रागानुगा-साधक अपना कल्याण प्राप्त नहीं कर सकता। स्त्री-पुरुषगत प्राकृत-रसके विप्रलंभमें (विरहमें) दुख-कष्टका अनुभव कर इसकी हेयताको अप्राकृत विप्रलंभमें आरोप कर उनसे बचनेके लिये कोई संभोग-रसका आवाहन न कर बैठे, इसलिये श्रील भक्तिविनोदजीने अपने आश्रितजनोंको खूब ही सावधान किया है। जो

* अर्थात् श्रीकृष्णको चँवर व्यजन करनेके समय प्रेमानन्दसे उत्पन्न अपने देहकी जड़ताको कृष्ण सेवामें बाध्य समझकर दारुकने उसका अभिनन्दन न किया अर्थात् वे बड़े दुःखी हुए।

उनके उपदेशका उलङ्घन कर अन्य पथके पथिक एहु हैं, उनके प्रति हमारा कुछ भी वक्तव्य नहीं है। श्रीचैतन्य चरितामृतकी कुछ पयारें इस प्रकार हैं—

आत्म-सुख-दुखे गोपीर नाहिक विचार।
कृष्ण-सुख-हेतु करे सब व्यवहार ॥१॥
(आ० ४। १७४)

कामेर तात्पर्य—निज संभोग केवल।
कृष्ण सुखतात्पर्य-मात्र प्रेम त' प्रबल ॥२॥
(आ० ४। १६६)

आत्मेन्द्रिय-प्रीतिवांछा तारे बलि काम।
कृष्णेन्द्रिय प्रीति-इच्छा धरे प्रेम नाम ॥३॥
(आ० ४। १६५)

'सर्वत्याग करि' करे कृष्णेर भजन।
कृष्ण-सुख हेतु करे प्रेम-सेवन ॥४॥
(आ० ४। १६६)

अतएव काम-प्रेमे बहुत अन्तर।
काम—अन्धतमः, प्रेम-निर्मल भास्कर ॥५॥

अतएव गोपीगनेर नाहि कामगंध।
कृष्ण-सुख लागि मात्र,कृष्ण से सम्बन्ध॥६॥
(आ० ४। १७१-१७२)

प देह - दर्शन-स्पर्शे कृष्ण - सन्तोषन।
एई लागि करे अंगेर मार्ज्जन - भूषन ॥७॥
(आ० ४। १८३)

गोपीगन करेन जबे कृष्ण दरशन।
सुखवांछा नाहि, सुख हय कोटि गुन ॥८॥
(आ० ४। १८६)

ताँ' सबार नाहि निज सुख - अनुरोध।
तथापि बाढ़ये सुख, पड़िल-विरोध ॥९॥
(आ० ४। १८८)

आमार दर्शने कृष्ण पाइल एत सुख।
एई सुखे गोपीर प्रफुल्ल अङ्ग-मुख ॥१०॥
(आ० ४। १९१)

अतएव सेई सुख कृष्ण-सुख पोषे।
एई हेतु गोपी-प्रेम नाहि काम-दोषे ॥११॥
(आ ४०। १९५)

प्रीतिविषयानन्दे तदाश्रयानन्द।
ताँहा नाहि निज-सुख-वांछार सम्बन्ध ॥१२॥
(आ० ४। १९९)

सखीर स्वभाव एक अकथ्य कथन।
कृष्णसह निज-लीलाय नाहि सखीर मन ॥१३॥
(म० ८। २१५)

सहज गोपीर प्रेम, नहे प्राकृत-काम।
कामक्रीड़ा-साम्ये तार नाहि काम-नाम ॥१४॥
(म० ८। २१५)

निजेन्द्रिय-सुखहेतु कामेर तात्पर्य।
कृष्ण-सुख-तात्पर्य गोपीभाव-वर्य ॥१५॥

निजेन्द्रिय-सुखवांछा नाहि गोपीकार।
कृष्णे सुख दिते करे सङ्गम-विहार ॥१६॥

सेई गोपी भावामृते जाँर लोभ हय।
'वेदधर्म त्यजि' से कृष्ण के भजय ॥१७॥

रागानुगमार्गे ताँरे भजे जेई जन।
सेई जन पाय व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन ॥१८॥
(म० ८। २१७-२१८, २१०-२११)

ना गनि आपन-दुःख, सबे बांछि तार सुख,
ताँर सुख-आमार तात्पर्य ।
मोरे यदि दिया दुख, ताँर हैल महासुख
सेई दुःख-मोर सुखवर्य ॥१६॥ (अ० २०।५२)
निज-सुखे माने लाभ, पड़ुक तार शिरे बाज,
कृष्णेर मात्र चाहिये संतोष ॥२०॥
(अ० २०। ५)

अर्थात्—गोपियों को आत्म-सुख-दुःख की तनिक भी स्पृहा नहीं रहती; उनके सभी व्यवहार केवल कृष्णको सुखी करनेके लिए होते हैं ॥ १ ॥ कामका तात्पर्य केवल आत्म-सम्भोगके लिए होता है; किन्तु प्रेममें तो कृष्ण सुखकी अभिलाषा ही प्रबल होती है ॥२॥ अपने सुख-संभोग की वाञ्छा का नाम काम है और कृष्ण सुख की अभिलाषा को प्रेम कहते हैं, अथव मैं कृष्णदास हूँ इस बुद्धि के अनुगत होकर जो सकल वाञ्छाएँ होती हैं उसे प्रेम तथा मैं फल भोक्ता हूँ इस बुद्धि से चालित होकर जिन वांछाओं का उद्गम होता है, उसे काम कहते हैं ॥ ३ ॥ भोक्ता अपना सर्वस्व त्याग† कर कृष्णका भजन करता है; वह कृष्णकी प्रेम-सेवा करता है—केवल कृष्णके सुखके लिये ही ॥४॥ अतएव काम और प्रेम में बहुत ही अन्तर है। काम—घोर अन्धकार स्वरूप है तथा प्रेम—निर्मल भाष्कर स्वरूप है ॥५॥ अतएव गोपियों में कामका गंध तक नहीं। उनका कृष्णके साथ सम्बन्ध तो केवल कृष्णको सुख देनेके निमित्त होता है ॥ ६ ॥ हमारे देहके दर्शन और स्पर्श से कृष्ण को आनन्द होता है—ऐसा जानकर गोपियाँ अपने अंगोंका मार्जन और शृङ्गार करती हैं ॥७॥ गोपियों के कृष्ण दर्शनमें आत्म-सुखकी वांछा नहीं रहती तथापि गोपियोंके दर्शनसे कृष्णको जितना सुख प्राप्त होता है, उस सुखसे कोटिगुण सुख होता है गोपियोंको—कृष्ण दर्शनसे ॥ ८ ॥ उन्हें अपने सुख की अभिलाषा नहीं रहती, फिर भी उनका सुख उत्तरोत्तर उज्ज्वल होकर बढ़ता जाता है। कहाँ गोपियाँ आयीं थीं कृष्णको सुख देने—यहाँ तो इनका ही सुख कोटिगुन अधिक बढ़ गया, अतः यहाँ विरोध उपस्थित हो जाता है ॥९॥ संशय यह होता है कि गोपियोंको भी जब कृष्ण-दर्शनसे सुख होता है तब गोपी-प्रेमको भी 'काम' क्यों न कहा जाय ? यहाँ ग्रन्थकार इस संशयका छेदन करते हुए कहते हैं कि यहाँ ऐसे संशयकी सम्भावना नहीं, क्योंकि उनके अंगोंके दर्शनसे कृष्णको इतना आनन्द हुआ है—इससे मन ही मन सुख अनुभव कर उनका वदन-कमल आनन्दसे विकसित हो जाता है। यहाँ गोपियोंके मनका भाव ऐसा होता है—"हमें आनंदित देखकर कृष्ण अधिक सुखी होते हैं, सुतरां हमें अधिकतर प्रफुल्ल रहना चाहिये।" अतः गोपी-सुख कृष्ण-सुखका पोषक है। अतएव गोपी-प्रेममें आत्म-सुख-वांछा-रूप काम दोष नहीं है ॥१०-११॥ प्रीतिके विषय कृष्ण हैं; उनका आनन्द ही उनकी प्रीतिके आश्रय गोपियोंका आनन्द है। इस प्रकार आनन्द समृद्धिमें गोपियोंका आत्म-सुखकी वांछासे सम्बन्ध नहीं है ॥१२॥ सखियोंकी एक अकथनीय बात यह

† यहाँ सर्वस्व त्याग द्वारा दैहिक और मानसिक कार्योंके त्यागके लिये परामर्श नहीं दिया गया है, ये सभी कार्य यदि अपनेको कृष्णदास समझकर कृष्ण-सुखके लिए किये जाँय तो वे काम नहीं, बल्कि भक्ति कहलाते हैं।

है कि उनको कृष्णके साथ स्वयं लीला करनेमें आनन्द नहीं आता—उन्हें तो श्रीकृष्णके साथ श्रीमती राधाकी लीला कराकर ही अपूर्व सुख प्राप्त होता है ॥१३॥ गोपियोंका प्रेम सहज अर्थात् स्वाभाविक होता है। उनका प्रेम प्राकृत काम नहीं है। उसमें काम-क्रीड़ाका कुछ साम्य रहनेके कारण उसका नाम काम भी है ॥१४॥ अपने सुखकी अभिलाषा ही कामका तात्पर्य होता है, पर गोपी-भावमें केवल कृष्ण-सुखकी ही अभिलाषा होती है। अतः गोपी-भाव ही श्रेष्ठ है ॥१५॥ गोपियोंमें अपने सुखकी अभिलाषा नहीं होती। उनका कृष्णके साथ मिलन और विहार तो कृष्णके सुखके लिए ही होता है ॥१६॥ गोपियोंका कृष्णके प्रति जो स्वाभाविक राग (प्रेम-भाव) होता है उस गोपी-भावामृतके लिए जिसे लोभ होता है, वह वेद धर्म (वैधी-भक्ति) को त्याग कर रागानुगा-मार्गसे कृष्णका भजन कर व्रजमें व्रजेन्द्रनन्दनको प्राप्त करता है ॥१७-१८॥

गोपियाँ अपने सुख-दुःखकी गणना नहीं करती, उन्हें कृष्णसुखकी कामनाके अतिरिक्त अपने लिये स्वतन्त्र सुखकी कामना नहीं होती। एक गोपी कहती है—"मैं अपने दुखोंका विचार नहीं करती। मैं तो सर्वदा उनके ही सुखोंकी अभिलाषा करती हूँ—उनका सुख ही मुझे एकमात्र इष्ट है। यदि मुझे दुख देनेसे उन्हें महासुख हो, तो वही दुख मेरे लिए सर्व-श्रेष्ठ सुख है ॥ १९ ॥ जो निज सुखमें ही अपनेको कृतार्थ समझता है उनके सिर पर वज्रपात हो अर्थात् उसका सर्वनाश हो—वह तो प्राकृत सम्भोग परायण सहजिया अभक्त हो पड़ता है। मुझे तो एकमात्र कृष्णको आनन्द हो—यही चाहिए" ॥२०॥

वैधी भक्तिका साधन और परिचय

जिनका नैसर्गिक सम्बन्धज्ञान उदय नहीं हुआ है वे भगवत् प्रिय वस्तुका अलौकिक सौन्दर्य पहले पहल देख नहीं पाते। अतः उनके लिए विधि-मार्गमें शास्त्रीय विचार और गुरुके उपदेश आवश्यक हैं। जो शास्त्र वाक्यों पर श्रद्धाके साथ विश्वास कर गुरुके निकट भजन-शिक्षा करते हैं और भजनके प्रभावसे अनर्थोंके हाथसे परित्राण लाभ करते हैं, उनके साधन-भक्तिके कालमें ही निष्ठा नामक एक अवस्था परिलक्षित होती है, उसीसे रुचि उत्पन्न होती है। विधिके अनुगत होकर भजन करनेके लिए श्रीरूप गोस्वामीपादने अपने उपदेशामृतमें कहा है—

"स्यात् कृष्णनामचरितादि सिताप्यविद्या,
पित्तोपतप्तरसनस्य न रोचिका नु।
किन्त्वादरादनुदिनं खलु सैव जुष्टा,
स्वाद्वी क्रमाद्भवति तद्गदमूलहन्त्री ॥
(उपदेशामृत ७)

अर्थात्-अहो! जिनकी जिह्वाका स्वाद पित्तके दोषसे बिगड़ा हुआ है अर्थात् जो अनादि कालसे कृष्ण-विमुख होनेके कारण अविद्या ग्रस्त हैं, उन्हें कृष्ण-नाम, गुण एवं उनकी लीला आदिका गानरूप सुमधुर मिश्री भी मीठी नहीं लगती। किन्तु यदि आदरके साथ अर्थात् श्रद्धायुक्त होकर उसी कृष्ण नाम-चरितादिरूप मिश्रीका निरन्तर सेवन किया जाय तो क्रमशः निश्चय ही उसका आस्वादन उत्तरो-त्तर बढ़ता जायगा और कृष्ण-विमुखतारूप जड़-भोग व्याधिका (पित्त रोग की तरह) समूल नाश हो जावेगा।

रागानुगा भक्तिका कपट--अनुकरण अपराधमय है

रुचिका उदय हुआ हो, साथ ही साथ प्रवृत्ति रूप अनर्थ भी प्रबल हो, ऐसी घटना निष्कपटता अथवा निर्व्यलीकत्वका बाधक है । इस प्रसंगमें श्रीमद्भागवतका निम्नलिखित श्लोक उल्लेखनीय है–

"येषां स एव भगवान् दययेदनन्तः,
सर्वात्मनाश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम् ।
ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां,
नैषां ममाहमिति-धीः श्वशृगालभक्ष्ये ॥*
(भा० २।७।८२)

चैतन्यचन्द्रोदय नाटकमें कहा गया है—

"बाह्याभ्यन्तरयोः समं बत कदा वीक्ष्यामहे वैष्णवान् ।"

जिनकी रुचि कृत्रिम होती है वे शीघ्र ही विषयों में फँस जाते हैं । तब वे अपराधको ही वैष्णव-कृत्य जान कर रागानुग बाह्य-साधन श्रवण-कीर्त्तनका आश्रय कर अपनी भक्तिलताको अपराध द्वारा उखाड़ फेंकते हैं, जिससे वह सूख जाती है । सुतरां अन्तश्चिन्तित उनकी सिद्ध-देह उस समय कृष्ण सेवाके बदले कृष्णसे अतिरिक्त वस्तुका अनुशीलन करने लगती है, तब वैष्णव-विद्वेष करते-करते जीव अतिबाड़िओं* की तरह श्रीगुरु-पाद-पद्ममें अपराध कर बैठते हैं । वे शास्त्रोंकी अवज्ञा कर उच्छृंखल हो रागानुगा भक्तिकी आड़में वैधी-भक्तिकी निन्दा करते है । इस विषयमें शास्त्रका स्पष्ट निर्देश है—

"श्रुति स्मृतिपुराणादि पञ्चरात्र विधि बिना ।
आत्यन्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव केवलम् ॥"

साधन-भक्ति—वैधी और रागानुगा

साधन-भक्तिमें वैधी और रागानुगा—ये दोनों ही मार्ग अवस्थित हैं । भाव उदय होने पर वैधी-भक्तिके अधिकारी भी रागानुगा-मार्गसे भजन करना आरम्भ करते हैं । वैध-भक्त व्रजवासियोंके भावोंसे लुब्ध होनेके पहले शास्त्र और युक्तिकी अपेक्षा करते हैं । उनका सन्देह दूर होनेपर विचार-प्रधान मार्गके सिद्धान्तमें अभिज्ञ होकर रुचि-प्रधान मार्गमें प्रवेश करते हैं । ऐसी अवस्था आनेके पहले ही कपटपूर्वक रुचि-प्रधान-पथमें अपनेको अवस्थित समझकर वैध-मार्ग स्थित भक्तोंके साथ यदि वे वितंडामें प्रवृत

*भावार्थ—भगवान् श्रीअनन्त देव जिनपर कृपा करते हैं, वे यदि निष्कपट होकर सर्वतोभावेन कायमनोवाक्यसे उनके चरणोंमें शरणागत हो जाँय तो भगवान्की दुस्तरा अलौकिकी मायाको पार कर सकते हैं । ऐसे शरणागत भक्तों का कुत्तों और शृगालोंके भक्ष्य इस देहमें "मैं और मेरा" बुद्धि नहीं रहती ।

*उत्कल प्रदेशमें जगन्नाथ दास और रूप कविराजको तथा इनके अनुगत सम्प्रदायको अतिबाड़ी सम्प्रदाय कहते है । ये अपनेको श्रीमन्महाप्रभुका अनुगत सम्प्रदाय कहते हैं, किन्तु वास्तवमें वे महाप्रभुके अनुगत गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायसे अलग एक नवीन पंथी हैं । ये प्रसाद-सेवाके समय अपना उच्छिष्ट प्रसाद स्वयं सर्व साधारणमें वितरण करनेके कारण अतिबाड़ी सम्प्रदाय या रूप कविराजवादी सम्प्रदायके नामसे ख्यात हैं ।

होते हैं तो ऐसे "रुचि-प्रधान" परिचयकी आकांक्षा रखनेवाले व्यक्तियोंके स्वरूपकी विभ्रान्ति हुई है—ऐसा समझना चाहिये। फिर रागानुग मार्गके रूपानुग आचार्य श्रीजीवपादके द्वारा रचित 'श्रीभागवत-सन्दर्भके' सिद्धान्तोंसे विमुख होकर नाम-श्रवण और अनर्थ निवृतिके बाद क्रमशः रूप-श्रवण, गुण-श्रवण और लीला-श्रवणकी अवज्ञा होनेपर रागानुगा साधन का भी विरोध होना अवश्यम्भावी है। क्योंकि बाह्यतः हरि-कथा-श्रवण और कीर्त्तन दोनों ही रागानुग-मार्गमें अत्याज्य (न छोड़ने योग्य) कृत्य विशेष हैं।

साधन भक्तिका क्रम

श्रीजीवपादने लिखा है,—तदेवं नामादिश्रवण भक्त्यंगक्रमः। तथापि प्रथमं नाम्नः श्रवणम्, अन्तःकरणशुद्ध्यर्थमपेक्ष्यम्। शुद्धे चान्तःकरणे रूपश्रवणेन तदुभययोग्यता भवति। सम्यगुदिते च रूपे गुणानां स्फुरणं सम्पद्यते। ततस्तेषु नामरूपगुणेषु तत्परिकरेषु च सम्यक् स्फुरितेष्वेव लीलानां स्फुरणं सुष्ठु भवतीत्यभिप्रेत्य साधनक्रमो लिखितः। एवं कीर्त्तन-स्मरण योर्ज्ञेयम्। इदञ्च श्रवणं श्रीमन्मुखरितं चेन्ममाहात्म्यं जात रुचिनां परमसुखञ्च।

(श्रीभक्तिसंदर्भ-संख्या २५६)

अर्थात्—नाम-रूप-गुणादि श्रवण ही भक्ति-अंगका क्रम है। तथापि अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए पहले-पहल नाम-श्रवण ही अपेक्षणीय होता है। अन्तःकरण शुद्ध होनेसे रूप-श्रवणके द्वारा हृदयमें रूपका उदय होता है, इसके द्वारा गुण-समूहकी स्फूर्ति होती है। अनन्तर नाम, रूप, गुण और तदीय परिकर समूहकी भली-भाँति स्फूर्ति होनेपर सुष्ठु रूपसे लीला-समूहका स्फुरण होता रहता है। इसी अभिप्रायसे ही साधनक्रम लिखा गया है। इसी प्रकार कीर्त्तन और स्मरणके विषयमें भी जानना चाहिये, यह श्रवण महाजन-मुखरित होनेपर महामाहात्म्य-युक्त एवं जात रुचि-व्यक्तियोंके लिए परम सुखप्रद होता है।

नाम द्वारा अपने सिद्ध परिचयका उदय

जो अनर्थ-युक्त जीवको जात-रुचि समझकर उन्हें कृष्ण-नाम-रूप-गुण-परिकर-वैशिष्ट्य-लीलायुक्त रसग्रन्थ श्रवण कराते हैं अथवा श्रवण करते हैं, उनकी यथेच्छाचारिता अवश्य ही विशृङ्खलता उत्पन्न करती है। कृष्ण-नाम करते-करते सिद्धान्त अवगत होनेपर शुद्ध-भक्त अपना परिचय अच्छी तरह जान सकते हैं। नाम-भजनमें नाम उच्चारणकारी अपने अनुकूल या प्रतिकूल विचारसे युक्त-वैराग्य-विशिष्ट गृहस्थ अथवा पारमहंस्य धर्म—इनमेंसे कोई एक को अपनी सुविधानुसार ग्रहण करेंगे। इसमें किसीको बाधा देना उचित नहीं। किन्तु फिर भी जड़-गृहमें आसक्ति अथवा स्त्रैण होना भक्तोंके लिए सुविधाजनक नहीं और परमहंस होकर भी फल्गु (शुष्क) वैराग्यका आश्रय करनेसे भजनमें विघ्न पड़ता है।

—जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील प्रभुपाद

असत्संग

असत्सङ्गका तात्पर्य

असत्संगसे असत् व्यक्तियोंके संगका अर्थात् कुसंगका बोध होता है। भक्ति-साधकोंको असत्संग से सर्वथा बचना चाहिए। श्रीचैतन्यमहाप्रभुजीका इस विषयमें यह उपदेश बड़ा ही महत्वपूर्ण है—

असत्सङ्ग त्याग—एइ वैष्णव आचार।
स्त्रीसङ्गी एक असाधु, कृष्णाभक्त आर॥
(चैतन्यचरितामृत म० २२।८४)

अर्थात् असत्संगका त्याग करना वैष्णवोंका श्रेष्ठ सदाचार है। असत्संगसे अवैध स्त्रीसंग करने वाले दुर्जनों तथा कृष्णभक्ति-रहित अभक्त पुरुषों—इन दोनोंका ही बोध होता है। ऐसे असत्संगका सर्वतोभावेन परित्याग करना ही वैष्णवोंके लिये उत्तम आचरण है। केवल एक साथ रहने, खाने, पीने या टहलने आदिसे ही संग नहीं होता, बल्कि ये समस्त क्रियाएँ प्रीतिपूर्वक या आसक्तिके साथ सम्पन्न होने पर ही वास्तविक संग होता है। असत् व्यक्तियोंके साथ प्रीतिपूर्वक असत् विषयोंकी आलोचना करनेसे असत्संग होता है। असत्-व्यक्ति दो प्रकारके होते हैं—(१) स्त्रीसंगी और (२) कृष्णभक्ति रहित अभक्त पुरुषगण।

स्त्रीसङ्गी कौन हैं?

स्त्रीसंगमें आसक्त रहनेवाले व्यक्ति स्त्रीसंगी कहलाते हैं। कांचन-कामनीसे मुग्ध संसारासक्त व्यक्ति तथा सहजिया, बाउल सांई आदि कपट-धार्मिकजन और वामाचारी तांत्रिकगण—ये सब स्त्रीसंगी हैं। मूल बात यह है कि जिन लोगोंकी स्त्रियोंके प्रति आसक्ति या प्रीति होती है तथा जिन स्त्रियोंकी पुरुषों में आसक्ति या प्रीति होती है—वे दोनों ही स्त्रीसंगी हैं। ऐसे स्त्रीसंगियोंका यत्नपूर्वक त्याग करनेकी आज्ञा श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने दी है।

अभक्त और उनका सङ्ग-त्याग

कुछ लोग शुष्कज्ञान या शुष्कवैराग्यका अवलम्बन करके स्त्रीसंगसे दूर तो रहते हैं, परन्तु कृष्ण की उपासना नहीं करते। ऐसे लोग ही द्वितीय श्रेणी के असत् व्यक्ति—कृष्णाभक्त है। कृष्णाभक्तसे उन लोगोंका बोध होता है जो कृष्णके भक्त नहीं हैं। कर्मी, ज्ञानी, योगी दूसरे-दूसरे देवताओंके उपासक, मायावादी, नास्तिक आदि नाना प्रकारके कृष्णभक्ति-रहित अभक्त देखे जाते हैं। वैष्णव लोग ऐसे अभक्तोंका सङ्ग त्याग कर शुद्धभक्तोंका ही संग करते हैं। यद्यपि उपरोक्त अभक्तोंमें से कोई-कोई थोड़ी बहुत भगवत्-सम्बन्धी चेष्टा तो करते हैं, तथापि जबतक वे प्राकृत गुणोंके बन्धनसे मुक्त नहीं हो जाते, तब तक कृष्णेतर बुद्धि ही उनमें नैसर्गिक रूपमें प्रबल रहती है और उनके प्राकृत चित्तमें सर्वदा प्राकृत क्षोभ पैदा होता रहता है। भक्तजनका यह कर्तव्य है कि वे सभी प्राकृत विषयोंको असत् जान कर त्याग करें। कृष्णभक्तिसे रहित अभक्त लोग

अप्राकृत अधिकार प्राप्त करनेपर ही कृष्णभक्त हो सकते हैं। परन्तु जबतक वे प्राकृत बुद्धिसे युक्त रहते हैं, तबतक भक्तजन उनको असत् समझकर उनके संगका वर्णन करेंगे।

असत्सङ्गकी दो श्रेणियाँ-(क) बालिश, (२) विद्वेषी

(क) बालिश और उनके प्रति व्यवहार—

जो लोग दुर्जन या शठ न होनेपर भी अज्ञतावश स्त्रीसंग-प्रिय हैं, अथवा कृष्णके अतिरिक्त अन्यान्य देवताओंकी उपासना करते हैं, वे अज्ञ या बालिश कहलाते हैं। अतः वे भक्तोंके कृपापात्र हैं। भक्तजन यदि यथार्थतः उन्हें अज्ञ समझें तो अवश्य ही उनपर उनको कृपा करनी चाहिए। इसलिये उन बालिशोंको जहाँ तक संग प्रदान करनेकी आवश्यकता समझें उतना संग प्रदान करेंगे। ऐसा करनेसे उनको असत्संगका दोष स्पर्श नहीं करता है। प्रीति के साथ किसी विषयके सम्बन्धमें परस्पर आलाप-व्यवहार करना ही संग है। यदि अज्ञ व्यक्ति भक्तों की भक्ति-कथामें रुचि न रखें, तो उन अज्ञ व्यक्तियोंको असत् समझकर उनका संग परित्याग करना चाहिए। परन्तु यदि वे भक्तोंकी भक्ति-कथामें रुचि रखनेवाले हों तो वे शीघ्र ही सत् बन जाते हैं और भक्त कहलाते हैं। इसलिये ऐसे व्यक्तियोंको भक्तजन अपना संग प्रदान करेंगे।

द्वेषी और अपराधी व्यक्ति तथा उनके प्रति व्यवहार

जो लोग प्रतिष्ठा और भोग-मोक्षकी अभिलाषा द्वारा परिचालित होकर शठतापूर्वक धर्मध्वजी या योषित-संगी बनते हैं अथवा मायावाद आदि कुमतों का आदर करते हैं, वे अपराधी या द्वेषी हैं। भक्तजन ऐसे लोगोंकी विशेष यत्नपूर्वक उपेक्षा करेंगे या उनका संग छोड़ देंगे। जो लोग ऐसे व्यक्तियों पर भी कृपा करनेके लिये अपना संग उनको प्रदान करते हैं, उनका पतन हो जाता है। उनकी कृष्ण-बहिर्मुखता इतनी प्रबल होती है कि उनका संग करनेसे शुद्ध-वैष्णवोंमें भी प्रेमका धीरे-धीरे अभाव होता जाता है। श्रीचैतन्य महाप्रभुजी करते हैं—

प्रभु कहे—हैल आज पाषंडी संभाष।
एइ वा कारणे नहे प्रेमेर प्रकाश॥
(चैतन्यभागवत)

—आज मेरी बातचीत पाखण्डियोंसे हुई है; शायद इसीलिये मेरे हृदयमें प्रेमका प्रकाश नहीं हो रहा है।

सङ्गके प्रभावसे सत् या असत् होता है

संसर्गके कारण ही मनुष्य सत् या असत् बनता है। शास्त्रोंमें ऐसा कहा गया है—'संसर्गजा हि गुण-दोषा भवन्ति सर्वे।' शास्त्रोंमें जिस प्रकारसे सत्संग का अनन्त माहात्म्य वर्णन किया गया है, उसी प्रकारसे उनमें असत्संगके अनन्त दोषोंका भी बार-बार उल्लेख किया गया है। जब तक अप्राकृत तत्त्व में श्रद्धा या रतिका उदय नहीं होता, तब तक विषय-तृष्णा सम्पूर्ण रूपसे दूर नहीं होती। अवसर पाते ही इन्द्रियाँ झट विषयोंकी ओर दौड़ने लगती हैं।

स्त्रीसङ्गी और स्त्रीसङ्गीके सङ्गीके सङ्गका फल

खास कर स्त्रियोंके अवैध संगसे पुरुषोंका पतन होता है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

न तथास्य भवन्मोहो बद्धश्चान्यप्रसंगतः ।
योषित्संगाद्यथा पुंसो तथा तत्संगिसंगतः ॥
(भा० ३।३१।३५)

स्त्रीसङ्ग तथा स्त्रीसंगीके सङ्गसे जीवको जैसा मोह होता है, वैसा मोह अन्य विषयोंसे नहीं होता । सत्य, शौच, दया, धर्म, शम, दम, आदि मनुष्यके सभी सद्गुण स्त्रीसङ्गीके सङ्गसे नष्ट हो जाते हैं । अतएव बुद्धिमान व्यक्ति ऐसे योषित्-क्रीड़ामृगका संग नहीं करेंगे । पुनः कहते हैं—

सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धि र्ह्रीः श्रीर्यशः क्षमा ।
शमो दमो भगश्चेति यत्संगाद्यात्ति संक्षयम् ॥
तेष्वशान्तेषु मूढ़ेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु ।
संगं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीड़ामृगेषु च ॥
(भा० ३।३१।३३-३४)

भगवद्भक्तोंका असत्संग किस प्रकार होता है

भगवद्भक्तजन भगवत्-सम्बन्धके बिना क्षण-मात्र भी रह नहीं सकते । असत्संगमें असत् विषयों की ही चर्चा होती है, जिससे भक्तजन अत्यन्त दुःखी होते हैं । इसीलिये कात्यायन-संहितामें कहा गया है—

वरं हुतवहज्वाला पञ्जरान्तर्व्यवस्थितिः ।
न शौरिचिन्ताविमुख जन संवास-वैशसम् ॥

जलती हुई आगकी ज्वाला सही जा सकती है, पिंजड़ेमें बंद होना भी कहीं अच्छा है, परन्तु अभक्तों के साथ निवास करना या उनसे संभाषण करना भक्तोंको असहनीय होता है ।

असत्संगका त्याग करना ही उत्तम आचार है

जबतक अनर्थकी निवृत्ति नहीं होती, तब तक साधकको असत्संगसे यत्नपूर्वक बचना चाहिए । भजन करते-करते अनर्थ-समूह दूर होने पर असत्सङ्गके प्रति स्वाभाविक रूपमें अरुचि पैदा हो जाती है । फिर भी यदा-कदा असत्संग हो पड़ता है । अतः भक्ति-साधकोंको इस विषयमें सदा सावधान रहना चाहिए । असत्संग-त्याग—यह वैष्णवोंके लिये उत्तम सदाचार है तथा कृष्णनामैक-शरण ही उनकी वैष्णवताका लक्षण है ।

एते सब (असत्संग) छाड़ि आर वर्णाश्रम-धर्म ।
अकिंचन हञा लय कृष्णैक शरण ॥
शरण लञा करे कृष्णे आत्म समर्पण ।
कृष्ण तारे करे तत्काल आत्मसम ॥
(चै० च० म० २२।९०,९९)

कृष्णैकशरण ही वैष्णवताका लक्षण है

जो सब प्रकारके असत्संगका त्याग कर वर्णाश्रम धर्मको भी छोड़ कर सर्वथा अकिञ्चन होकर श्रीकृष्ण के अनन्य शरणागत हो जाते हैं, वे शीघ्र ही श्री-कृष्णके कृपापात्र हो जाते हैं तथा कृष्ण-प्रेम रूप परम पुरुषार्थको प्राप्त कर लेते हैं ।

—जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्री भक्तिविनोद ठाकुर

उपनिषद्-वाणी

छान्दोग्य-७

उपमन्युके पुत्र प्राचीनशाल, पुलुषके पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लविके पुत्रके पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्षके पुत्र जन और अश्वतराक्षके पुत्र बुडिल—ये सबके सब महान गृहस्थ और वेदोंके परम ज्ञाता थे। उन्हें यह जानने की इच्छा हुई कि आत्मा कौन है और ब्रह्म क्या है? इस प्रश्नका उत्तर जाननेके लिये वे सभी एक साथ अरूणके पुत्र उद्दालकके पास गये। परन्तु उद्दालक उनके प्रश्नका उत्तर स्वयं न देकर उनको साथ लेकर राजा अश्वपतिके निकट उपस्थित हुए। राजा अश्वपतिने उनकी परीक्षा करनेके लिये उन्हें धनका प्रलोभन दिखाया। परन्तु उससे विचलित न होकर ऋषियोंने राजासे केवल तत्त्वकी जिज्ञासा ही की।

ऐसा देख कर राजा बड़े प्रसन्न हुए और उन्हें अधिकारी जान कर क्रमसे उपदेश देने लगे।

पहला उपदेश—जो द्युलोकमें स्थित सुतेजा नामक वैश्वानर आत्माकी उपासना करते हैं, उनके कुलमें सुत आदि देखे जाते हैं, अन्नकी प्राप्ति होती है, प्रिय वस्तुओंका दर्शन होता है तथा वे ब्रह्मतेजसे सम्पन्न होते हैं, यह सुतेजा वैश्वानर ही आत्माका मस्तक है।

दूसरा उपदेश—आदित्यको विश्वरूप वैश्वानर आत्मा कहते हैं। वह आत्माका नेत्र है। इस आत्मा की उपासना करनेसे वंशमें विश्वरूप साधन दिखलायी पड़ता है। खच्चरियोंसे जुता हुआ रथ और हारोंसे युक्त अनेक दासियाँ प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त वह उपासक प्रियका दर्शन करता है तथा उसके कुलमें ब्रह्मतेज होता है।

तीसरा उपदेश—वायु—पृथग्वर्त्मा वैश्वानर आत्मा है। उसकी उपासना करनेसे अलग-अलग उपहार, रथ, अन्नकी प्राप्ति होती है तथा प्रियका दर्शन होता है। उसके कुलमें ब्रह्मतेज होता है। वायु आत्माका प्राण है।

चौथा उपदेश—आकाश—बहुल नामक वैश्वानर आत्मा है। उसकी उपासनासे बहुल अर्थात् प्रचुर रूपमें धन-धान्य एवं प्रजाकी प्राप्ति होती है। यह आत्माका मध्यभाग है। इसके उपासकोंको भी अन्न की प्राप्ति होती है, प्रियका दर्शन होता है तथा ब्रह्मतेजकी प्राप्ति होती है।

पाँचवाँ उपदेश—जल—रयिसंज्ञक वैश्वानर आत्मा है तथा आत्माकी बस्ति है। उसकी उपासना करनेसे धनवान और पुष्टिवान हुआ जाता है तथा वंशमें ब्रह्मतेज सम्पन्न व्यक्तिका जन्म होता है।

छठा उपदेश—पृथ्वी—प्रतिष्ठा संज्ञक वैश्वानर आत्मा है तथा आत्मका पैर है। उसकी उपासनासे प्रजा और पशुकी प्राप्ति होती है तथा कुलमें प्रिय दर्शन एवं ब्रह्मतेज सम्पन्न व्यक्तिका जन्म होता है।

सातवाँ उपदेश—भोजनके समय "प्राणाय स्वाहा" "व्यानाय स्वाहा" "अपानाय स्वाहा", "समानाय स्वाहा" और "उदानाय स्वाहा"—इन मंत्रोंका उच्चारण करना चाहिए। प्राणकी तृप्तिसे नेत्रेन्द्रियकी तृप्ति होती है। उसके द्वारा उसके अधिष्ठाता सूर्य और द्युलोककी तृप्ति होती है। सूर्य द्युलोकमें स्थित हैं। सूर्यकी तृप्तिसे भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेजके द्वारा तृप्त होता है। व्यानकी तृप्तिसे कर्णेन्द्रियकी तृप्ति, उससे दिशाओंकी तृप्ति तथा उससे चन्द्रमाकी तृप्ति होनेसे भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेजके द्वारा तृप्त होता है। अपानकी तृप्तिसे वाक्-इन्द्रिय, अग्नि, पृथ्वी तथा पृथ्वी और अग्निमें अधिष्ठित सभी प्राणियोंकी तृप्ति होती है। उसके फलस्वरूप भोक्ता प्रजा, पशु और ब्रह्मतेजकी प्राप्ति होती है। समानकी तृप्तिसे मन, पर्जन्य, विद्युत एवं पर्जन्य और विद्युतमें अधिष्ठित सभी प्राणियोंकी तृप्ति होती है और भोक्ता पहलेकी भाँति तेजःसम्पन्न होता है।

उदानकी तृप्तिसे त्वचा, आकाश, वायु एवं आकाश और वायुमें स्थित सभी प्राणियोंकी तृप्ति होती है। उससे भोक्ता प्रजा भी सब प्रकारसे सम्पन्न होता है। इस विषयमें मुख्य रूपसे ज्ञातव्य यह है कि जो व्यक्ति इस वैश्वानर विद्याको न जान कर हवन करता है, उसका वह हवन ठीक उसी प्रकार है, जैसा अङ्गारोंको हटा कर भस्ममें हवन किया जाय। तत्त्वज्ञानी व्यक्ति चाण्डालको उच्छिष्ट भी दे तो भी उसका वह अन्न वैश्वानर आत्मामें ही हुत होगा। ज्ञानसे या अज्ञानसे प्रत्येक प्राणी ही अग्निहोत्रकी उपासना करता है। परन्तु ज्ञानपूर्वक उपासना और अज्ञानपूर्वक उपासना—इन दोनोंका फल भिन्न-भिन्न प्रकारका होता है।

अरुणका सुप्रसिद्ध पौत्र श्वेतकेतु बारह वर्षों तक विधिपूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन एवं वेदाध्ययन कर अपनेको बड़ा बुद्धिमान और पण्डित मानते हुए अनम्रभावसे घर लौटा। उसको ऐसा देख कर उसके पिताने पूछा—'सौम्य! तू जो ऐसा पाण्डित्याभिमान और दुर्विनीत भाव लेकर लौटे हो, सो क्या तूने वह आदेश पूछा है, जिसके द्वारा अमत मत हो जाता है तथा अज्ञात भी ज्ञात हो जाता है? पुत्रने उस विषयमें अपनी अनभिज्ञता प्रकाश की और उस आदेशके सम्बन्धमें बतलानेके लिये पितासे प्रार्थना की। तब अरुणने अपने पुत्रको इस प्रकार उपदेश किया—सृष्टिसे पूर्व एकमात्र अद्वितीय सत् पदार्थ ही थे। उन्होंने बहु (अनेक) होनेकी इच्छा की। उनके इक्षण (दृष्टि या इच्छा) के प्रभावसे तेज, जल, अन्न, अंडज, जरायुज और उद्भिजादि प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है। तदनन्तर वे जीवात्माके त्रिवृत प्रकाश और नाम रूपमें अभिव्यक्तिकी इच्छा करते हैं। अग्निका लोहित रूप ही तेज, शुक्ल रूप जल और कृष्ण रूप ही अन्नके रूपमें व्यक्त है। विद्युतका भी लोहित, शुक्ल और कृष्णरूप क्रमशः तेज, जल और अन्न रूपमें व्यक्त है। इस त्रिवृत्करणका ज्ञान हो जाने पर वंशमें किसीके लिये भी कुछ भी अश्रुत, अज्ञात और अविज्ञात नहीं रह जाता। यह जान लेना कर्त्तव्य है कि केवल सत्-पुरुष परमेश्वरका ही यह त्रिवृत् प्रकाश है।

खाया हुआ अन्न तीन प्रकारका हो जाता है। उसका अत्यन्त स्थूल अंश मल हो जाता है, मध्यम

अंश मांस हो जाता है तथा सूक्ष्म अंश मनके रूपमें परिणत हो जाता है। पीया हुआ जल भी तीन प्रकार का हो जाता है। स्थूल भाग मूत्र हो जाता है, मध्यम भाग रक्त हो जाता है तथा सूक्ष्म भाग प्राणके रूपमें बदल जाता है ।

खाया हुआ (घृत आदि) तेज पदार्थ भी तीन रूपोंमें परिणत हो जाता है—उसका स्थूल भाग अस्थि हो जाता है, मध्यम भाग मज्जा हो जाता है तथा सूक्ष्म भाग वाक् हो जाता है । अतएव मन अन्नमय है, प्राण जलमय है तथा वाणी तेजोमयी है।

जिस प्रकार मथे जाते हुए दहीका जो सूक्ष्म भाग होता है, वह ऊपर इकट्ठा होकर घृत हो जाता है, उसी प्रकार खाये हुए अन्नका ऊपर उठा हुआ सूक्ष्मतम अंश ही मन हो जाता है, पीये हुए जलका ऊपर उठा हुआ सूक्ष्मतम अंश ही प्राण हो जाता है तथा खाये हुए घृत आदि तेज पदार्थोंका ऊपर उठा हुआ सूक्ष्मतम अंश ही वाणी हो जाता है।

इस प्रकार समझाये जाने पर भी जब श्वेतकेतु उक्त विषयको भलीभाँति न समझ सका तब उसने पिताजीसे पुनः समझानेके लिये प्रार्थना की। पुत्रकी प्रार्थना पर अरुण ऋषिने उसे पन्द्रह दिन केवल जल पीकर रहनेका उपदेश किया। तत्पश्चात सोलहवें दिन उन्होंने उसे वेदत्रयी पाठ करनेके लिये आज्ञा दी। परन्तु श्वेतकेतु अत्यन्त दुर्बल होनेके पाठ करनेमें अपनेको असमर्थ बतलाया।

इस पर पिताने उसकी वैसी असमर्थताका कारण बतलाते हुए कहा कि सोलहकलायुक्त पुरुष तुममें इस समय पन्द्रह दिन अन्नाहार न करके केवल जल पीनेसे केवल एक कला ही अवशिष्ट है । अब जैसे बहुतसे इन्धनसे प्रज्ज्वलित हुई आगकी एक अत्यन्त क्षुद्र चिनगारी यदि बच रहे तो वह उससे अधिक दाह नहीं कर सकती, उसी प्रकार तुम्हारी बची हुई एक कलासे तुम वेदका अनुभव नहीं कर सकते। अब तुम भोजन करके मेरे पास आओ, तब तुम मेरी बात समझ सकोगे।' तदनन्तर श्वेतुकेतु जब भोजन करके पुनः उपस्थित हुआतब वह वेद पाठ कर सका। इसके द्वारा पिताने पुत्रको यह भली प्रकारसे समझा दिया कि प्रज्ज्वलित अग्निकी एक छोटी सी चिनगारी भी तृण आदिका संयोग पाकर प्रचुर रूपमें जलानेकी शक्ति पा लेती है। उसी प्रकार अन्न आदि द्वारा पूर्णरूपसे तृप्त होने पर तेज, प्राण और वाणी—सबकी पुष्टि होती है।

जिस समय पुरुष सोता है, उस समय वह सत् से सम्पन्न हो जाता है। जिस प्रकार डोरीमें बँधा हुआ पक्षी इधर-उधर उड़कर भी अन्यत्र न जा पाने के कारण अपने बन्धन स्थानका ही आश्रय लेनेके लिये बाध्य होता है, उसी प्रकार मन भी दिशाविदिशाओंमें भ्रमण करते रहने पर भी प्राणका आश्रय लेनेको बाध्य है; क्योंकि वह प्राणरूप बन्धन वाला है।

जलका दूसरा नाम—"अशनाय" है। जलसे ही शरीर रूप अंकुरकी उत्पत्ति होती है। क्योंकि अन्नको छोड़कर शरीरका दूसरा कोई आश्रय नहीं है। जल अन्नको शरीर रूपमें अंकुरित होनेमें सहायता पहुँचाता है अर्थात् बीजके मूलमें जल सींचनेसे जिस प्रकार वह बीज अंकुरित होता है, उसी प्रकार

अन्न आदिमें जलका संयोग होने पर प्राणीके शरीर की उत्पत्ति तथा पुष्टि होती है । जल तेजसे उत्पन्न होता है। तेज सत् पुरुषसे पैदा होता है । अतएव समस्त पदार्थ ही सत् अर्थात् नित्यवस्तु परमात्मासे उत्पन्न है तथा उनके ही आश्रित है।

मृत्युके समय पुरुषका वाक् मनमें लीन हो जाता है। मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परदेवतामें लीन हो जाता है। वे परदेवता ही अणिमा हैं, वे ही सत् रूप हैं अर्थात् नित्य वर्तमान सत् स्वरूप हैं।

जिस प्रकार मधुमक्खियाँ नाना प्रकारके वृक्षोंसे रस अर्थात् मधु संग्रह कर अपने मधुचक्रमें रखती हैं, उस समय वे रस ऐसा अनुभव नहीं करते कि 'मैं इस वृक्षका रस हूँ और मैं इस वृक्षका रस हूँ। इसी प्रकार यह सम्पूर्ण प्रजा भी सत्को प्राप्त होने पर अपनी पूर्व अनुभूतिको भूल जाती है। अतएव पूर्वोल्लिखित निद्रावस्थामें पुरुष सत्स्वरूपमें स्थित होने पर उससे पूर्वकी जाग्रतावस्थाकी अनुभूति नहीं रहती। परन्तु पुनः जगनेपर प्रत्येकको अपना-अपना स्वरूप अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियोंमें स्थित स्वरूपकी अनुभूति हो जाती है।

जिस प्रकार पूर्वकी ओर बहनेवाली नदी, अथवा नाना दिशाओंमें बहने वाली अनेक नदियाँ जब समुद्रमें मिल जाती हैं, उस समय उनका कोई अपना पृथक परिचय नहीं रहता; बल्कि वे सभी समुद्रके रूपमें बदल जाती हैं। उसी प्रकार सम्पूर्ण प्रजाएँ सत् स्वरूपके आश्रय से च्यूत होने पर मायासमुद्रमें प्रवेश करने पर मैं मनुष्य हूँ, मैं पशु हूँ, इस मायिक परिचयमें स्थित होने पर उनकी पूर्व स्मृति नहीं रहती कि मैं सत्स्वरूप में थी और वहाँसे आ रही हूँ।

यदि कोई महान् वृक्ष (जीवित) के मूल अथवा अग्र भागमें आघात करे तो वह रसस्राव करेगा; क्योंकि वह आत्मासे ओतप्रोत है। यदि उसकी कोई शाखाको या सम्पूर्ण वृक्षको काट डाला जाय तो वह सुख जाता है और उससे अब रस नहीं निकलता। उसी प्रकार शरीर रूप वृक्षका नाश हो जाने पर अर्थात् शरीरसे आत्माके निकल जानेपर वह जीवित नहीं रहता है । शरीरकी मृत्यु है, परन्तु आत्माकी मृत्यु नहीं है। आत्मा नित्य है । आत्मा जबतक स्थूल-सूक्ष्म शरीरमें रहता है तभी तक शरीर रहता है,नहीं तो वह सुखे वृक्षकी भाँति हो जाता है।

वट वृक्षके फलमें अणुके समान असंख्य बीज होते हैं। उनमें से एक बीजको फोड़ने पर अत्यधिक अणु होनेके कारण उसके भीतर भविष्यमें होने वाले अंकुरको—जिससे एक विराट वट वृक्ष हो जाता है—देखा नहीं जाता; उसी प्रकार अणुस्वरूपमें विद्यमान जीवका परिचय कोई नहीं पाता। इस प्रकार अण्ड स्वरूपमें स्थित बीज ही आत्मा है ।

जिस प्रकार जलमें नमक डाल देने पर वह गल कर जलमें सर्वत्र मिल जाता है—ऊपर, नीचे और बीचमें सर्वत्र ही जल नमकीन हो जाता है । परन्तु उसे (नमकको) अब आँखोंसे देखा नहीं जाता; उसी प्रकार आत्मा शरीरमें सर्वत्र व्याप्त रहने पर भी बद्धजीव उसे देख नहीं पाता।

जिस प्रकार किसी व्यक्तिकी आँखें बाँधकर उसे उस स्थानसे बहुत ही दूर किसी दूसरे प्रदेशमें छोड़

दिया जाय और उसकी आँखोंका बंधन खोल दिया जाय, तो वह बुद्धिमान व्यक्ति एक ग्रामसे दूसरा ग्राम पूछता हुआ अपने पूर्व निवास स्थान पर पहुँच जाता है । उसी प्रकार आचार्यवान् जीव अर्थात् सद्गुरुका आश्रय ग्रहण करने वाला जीव सद्गुरुके उपदेशका अनुसरण कर अपने स्वरूपके नित्यावस्थान को पहुँचनेमें समर्थ होता है ।

ज्वर आदिसे सन्तप्त—मुमूर्षु पुरुषको चारों ओरसे घेर कर उसके बान्धवगण खड़े रहने पर भी वह उन सबको भूल कर अन्यत्र गमन कर जाता है, उपस्थित बन्धु - बान्धवोंको पहचानता नहीं । क्योंकि उसकी वाणी मनमें, मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज आत्मामें लीन हो जाती है । अतएव आत्मा ही सत्य है । आत्माके अभावमें शरीरमें अनुभव आदि करनेकी शक्तिका भी अभाव होता है ।

हे सौम्य ! राजकर्मचारी किसी चोरको पकड़ कर चोरीके सम्बन्धमें उससे पूछते हैं, परन्तु वह सब कुछ अस्वीकार करता है, परन्तु सत्यको छिपाने पर भी वह इस लोकमें प्रहार आदि दण्ड पाता है तथा मृत्युके पश्चात् यमलोकमें नाना प्रकारकी यातनाएँ भोग करता है । उसी प्रकार अज्ञ जीव अपने असत् कर्मोंके फलस्वरूप संसारमें पुनः पुनः जन्मता और मरता रहता है तथा नाना-प्रकारसे दुःख भोग करता है; परन्तु विज्ञजीव अपने स्वरूपका परिचय जान कर भजनके प्रभावसे नित्यधाममें गमन करते हैं । वहाँ गमन करनेवालोंका पुनरावर्तन नहीं होता । अतएव आत्माका स्वरूप जानना सबका परम कर्त्तव्य है ।

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज

त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्ति वेदान्त परमार्थी महाराजका स्वधाम-गमन

हम पाठकोंको गंभीर वेदनापूर्वक यह दुःखद संवाद दे रहे हैं कि समितिके बङ्गला मुखपत्र—श्रीगौड़ीय पत्रिका (पारमार्थिक मासिक) के प्रचार-सम्पादक—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त परमार्थी महाराज गत २८ नवम्बर (६२) बुधबारको प्रातः ४॥ बजे श्रीधाम नवद्वीप स्थित श्रीदेवानन्द गौड़ीय मठमें श्रीश्रीगुरु-गौराङ्ग राधाविनोद बिहारीजीका स्मरण एवं श्रीहरिनाम उच्चारण करते-करते नित्यधामको महाप्रयाण कर गये । ये विश्व-विश्रुत गौड़ीय मठ के प्रतिष्ठाता जगद्गुरु १००८ श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामीके पादपद्मोंमें पांचरात्रिक दीक्षा प्राप्त थे एवं श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके प्रतिष्ठाता एवं नियामक आचार्यप्रवर ॐ विष्णुपाद १००८ श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके निकट त्रिदण्ड संन्यास-वेश ग्रहण किये थे । इनकी सेवा-निष्ठा, श्रीनाम-भजन-परायणता, गुरु-निष्ठा तथा शुद्धभक्ति प्रचारमें निर्भिकता ऐकान्तिक भक्तोंके लिये आदर्श है । हम उनके जैसे भक्तप्रवरके वियोगमें विशेष विरह-व्यथाका अनुभव करते हैं ।

—सम्पादक

भगवान्‌की कथा

शुद्ध भक्तियोग केवल एक ही प्रकारका होता है, किन्तु बुद्धियोगका किस तरह कर्म और ज्ञानमें प्रयोग किया जा सकता है—इसे श्रीमद्‌भगवद्‌गीतामें बतलाया गया है । बुद्धियोग जब कर्मके लिये प्रयुक्त होता है, तब वह कर्मयोग या कर्ममिश्रा भक्ति कहलाता है । और जब ज्ञानके लिये प्रयुक्त हो, तब वह ज्ञानयोग या ज्ञान मिश्रा भक्ति कहलाता है। किन्तु इन दोनों सीमाओंको पारकर ज्ञान-कर्मादिसे रहित सर्वथा विशुद्ध होनेपर वही केवला-भक्ति ही विशुद्ध 'भक्ति-योग कहलाती है ।

हमारे प्रत्येक कर्मका पृथक्-पृथक् फल होता है । इन कर्म-फलोंको भोगते समय और भी नये कर्म और कर्म-फल उत्पन्न होते हैं । वे भी अपना पृथक्-पृथक् फल प्रदान करते हैं । किन्तु इन सब कर्मोंको भक्तियोग नहीं कहा जा सकता । कर्म और कर्म-फल एक महान् वृक्षके रूपमें अपनी शाखा—प्रशाखाओंका विस्तार करते हैं । उन कर्मोंको एवं कर्म-फलोंको भोगनेके लिए संसारमें बार-बार आना पड़ता है। यह संसार ही "In the dispensation of providence" का एक अशाश्वत, दुःख और अशान्तिका स्थान है। बार-बार इस संसारमें कर्म और कर्मफलके अधीन होकर भ्रमण करना पड़ता है। इस तरह माया बद्ध जीवोंको चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करना पड़ता है। त्रितापों द्वारा वे पीड़ित होते हैं और उन्हें किसी भी प्रकारसे rest या शान्ति नहीं मिलती। कर्म त्यागका भी कोई उपाय नहीं है । संसारका परित्याग कर संन्यास ग्रहण लेने पर भी उदर पूर्तिके लिए कुछ कर्म अवश्य करने पड़ते हैं। इसीलिए शंकराचार्यने कहा है कि—"उदर निमित्तं बहुकृत-वेशम् ।" जब अर्जुनने अपने क्षत्रियोचित कर्म—युद्धको त्याग करनेका निश्चय किया, तब भगवान श्रीकृष्णने उनसे कहा—

"नियत कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः ॥"
(गीता ३।८)

गीतामें भगवानने अर्जुनको सर्वदा ही शास्त्रोक्त कर्म करनेका उपदेश दिया है। कर्म त्याग करनेसे जीवन निर्वाह करना भी कठिन है। अनधिकारी व्यक्ति अपना कर्मत्याग कर बहुत कष्ट पाते हैं। बिना कर्म किये जीवन निर्वाह ही जब सम्भव नहीं है, तब कर्मत्याग कैसे सम्भव है केवल कर्म करनेसे ही शान्ति नहीं मिल सकती। इसलिए भगवान श्रीकृष्णने कर्म करनेकी विधि बतलाई है:—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥
(गीता ३।९)

यह "dispensation" का एक विचित्र providence है कि भगवानके लिए कर्म करनेसे कर्म बन्धन नहीं होता। सभी कर्मोंको यज्ञके लिये अर्थात् विष्णुकी प्रीतिके लिए करना ही मुक्तसङ्ग-कर्म-पद्धति

या कर्म-योगका कौशल है। इसी पद्धतिके द्वारा ही कर्म बन्धनसे मुक्त हो सकते हैं और नित्यसिद्ध भगवद्भक्ति पा सकते हैं। निष्काम कर्म वह कर्म है जिसमें अपने सुखकी तनिक भी कामना न हो। यहाँ कर्मफलको भोग करने की इच्छा नहीं रहती, परन्तु ऐसे फलको भगवानको ही अर्पण किया जाता है।

जीवन-निर्वाहके लिए प्रत्येक व्यक्तिको ही अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार अर्थादिका संग्रह करना पड़ता है। पर्याप्त भोजनके अभावमें शरीर की रक्षा नहीं हो सकती। फलस्वरूप खाद्य वस्तुओंका संग्रह करना भी कठिन हो जाता है। कार्य-कारणका निर्णय करना बहुत कठिन है। क्योंकि कार्य ही कारण बन सकता है या कारण ही कार्य बन सकता है। माया-बद्ध जीव इसी कार्य-कारण रूप कर्मचक्रमें भ्रमण करते रहते हैं। इस प्रकार भ्रमण करते-करते कोई भाग्यवान जीव भगवान और साधुगुरुकी कृपासे अपनी दुरवस्थाको जान पाता है और उससे छुटकारा पानेकी चेष्टा करता है।

जड़ जगत्में जो तात्कालिक सुख-शान्ति है, वह हमारी प्राप्य वस्तु नहीं है। हम नित्य शाश्वत वस्तु हैं। इसलिए नित्य सुखका अनुसन्धान करना हमारा कर्त्तव्य है। फिर भी हम सांसारिक सुखकी ही चेष्टा करते हैं और बार-बार इस संसारमें ही हमें भ्रमण करना पड़ता है। थोड़ी सी शान्ति पानेके लिए हम जीव हिंसा आदि कार्य करनेमें प्रवृत्त होते हैं। इस तरह हमें वास्तविक शान्ति नहीं मिल सकती। हम यह नहीं जानते कि वास्तविक शान्ति कहाँ मिल सकती है। प्रह्लाद महाराजने इसीलिए कहा है—"न ते विदुः स्वार्थगति हि विष्णुं।"

स्वार्थान्वेषण करते-करते हम उद्देश्य हीन हो पड़ते हैं और जड़ शरीर और मन रूपी जहाजमें बैठकर संसारमें भ्रमण करते ही रहते हैं। भव-सागर का आर-पार न पाकर हम केवल धक्का ही खाते हैं और सोचते हैं कि "In the dispensation of providence man cannot have any rest" यदि हम जानते कि 'विष्णु' ही हमारे परम-स्वार्थ या एकमात्र गति हैं, तो हमें किसी प्रकारका कष्ट नहीं होता भगवान श्रीकृष्णने एकमात्र विष्णुकी प्रीतिके लिए कर्म करनेका आदेश दिया है। वेदोंमें भी "तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः" आदि ऋक्मंत्रोंमें यही बतलाया गया है। सूरयः अर्थात् दिव्यसूरिगण सर्वदा ही विष्णुपाद पद्मोंके आश्रित हैं। विष्णुकी प्रीतिके लिए कर्म करना ही मुक्त होनेका एकमात्र उपाय है। कर्म चक्रसे छुटकारा पानेके लिए हमें सर्वदा ही विष्णुपादपद्मका स्मरण करना चाहिए। ऐसा नहीं करनेसे हम असुर श्रेणीमें ही गिने जायेंगे।

वर्णाश्रम और सनातन धर्मावलम्बी हमारे पूर्वज, विशेषकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि उच्च वर्ण स्थित व्यक्ति विष्णुकी प्रीतिके लिए कर्म करते हुए जीवन निर्वाह करते थे। प्रत्येक आश्रम और विशेषकर गृहस्थाश्रमके प्रायः प्रत्येक व्यक्ति ही विष्णु सेवा रूपी नित्य यज्ञका अनुष्ठान करता था। इस समय भी बहुतसे निष्ठायुक्त गृहस्थ ऐसा ही किया करते हैं।

विष्णु-सेवाके लिए अर्थ संग्रह करना, उसके द्वारा खाद्य द्रव्य खरीदना, उन द्रव्योंके द्वारा विष्णुका नैवेद्य तैयार करना, उसी नैवेद्यको प्रसादके रूपमें ग्रहण करना आदि सभी कार्योंमें विष्णु प्रीति ही

लक्षित होती थी। प्राचीन कालमें ऐसे ही हुआ करता था और आजकल भी कहीं-कहीं यह देखनेको मिलता है। इस पद्धतिको सभी व्यक्ति अपना सकते हैं। इसका सर्वत्र और सब विषयोंमें ही प्रयोग किया जा सकता है। हमारे एकमात्र गति सर्वेश्वर भगवान विष्णुकी प्रीतिके लिए कर्म करनेसे ही कर्मबन्धनसे हम छुटकारा पा सकते हैं। क्रियामान कर्मोंको न त्याग कर एकमात्र विष्णुकी प्रीतिके लिए कर्म करना ही शास्त्रोंकी विधि है। शास्त्रोंमें विष्णुपादपद्मकी प्राप्तिको ही मुक्ति कहा गया है—"मुक्तिः विष्णुवांछिलाभः।" विष्णुकी प्रीतिके लिए कर्म करना ही हमारा परम स्वार्थ है। यज्ञ या भगवान विष्णुके उद्देश्यसे कर्म नहीं करनेसे सभी कर्म पापात्मक या गर्हित बन जाते हैं और उससे जगतका अहित ही होता है। श्रीमद्भगवद्गीता (३।१३) में कहा गया है:—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

जीवन निर्वाह करते हुए हमें विष्णुकी सेवा भी करनी चाहिए। इस कार्यमें अकस्मात् कोई पाप हो भी जाय तो भी यज्ञसे बचे हुए भगवान विष्णुके प्रसादको ग्रहण करनेसे सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हुआ जा सकता है। अत्यन्त सतर्क रहने पर भी और दृढ़तासे अहिंसा-धर्मका पालन करने पर भी कभी-कभी अनजानसे पाप कार्य हो जाते हैं। व्यवसाय, वाणिज्य, लोकाचार और व्यवहारिक कार्योंमें और विशेषकर राजनीतिक कार्योंमें प्रायः ही पाप कार्य करने पड़ते हैं। अहिंसा धर्मका पालन करने पर भी कुछ न कुछ हिंसाकार्य हुए बिना नहीं रहता। सब प्रकारके पाप कार्योंसे दूर रहने पर भी "पञ्चसूना" नामक महापापसे बचनेका कोई उपाय नहीं है। मार्गमें चलते-फिरते अनिच्छासे चींटियों पर पैर पड़ जाते हैं। गृहादि मार्जन करते समय बहुतसे प्राणियोंकी हिंसा हो जाती है। आहार विहारादि करते समय भी इच्छासे या अनिच्छासे पाप कार्य बन जाते हैं। अहिंसा का अवलम्बन करने पर भी उससे एक व्यक्तिकी सुविधा होना और दूसरे की असुविधा होना स्वाभाविक है। (क्रमशः)

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त स्वामी महाराज

श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षा

[गताङ्कसे आगे]

श्रीकृष्णमें एक पराशक्ति नामक स्वाभाविकी शक्ति है। वह विचित्र विलासमयी और विचित्र-आनन्द सम्वर्द्धिनी है। उस शक्तिके अनन्त प्रभाव होने पर भी जीवके निकट उसमेंसे केवलमात्र तीनका परिचय है। इन तीन प्रभावोंके नाम हैं--चित्-शक्ति, जीवशक्ति और माया शक्ति। वेदके अनेक स्थलोंमें इस पराशक्तिके तीनों प्रभावोंका वर्णन मिलता है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्
यस्मिन् देवो अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य-
इत्तद्विदु स्त इमे समासते॥ (श्वे०४।८

[ऋग्वेदमें जिस अक्षर-परव्योमका वर्णन है--जिसमें समस्त देवतागण निवास करते हैं, उसके तत्त्वको जो नहीं जानते, वे ऋक् द्वारा क्या करेंगे। जो उस तत्त्वको जानते हैं, वे ही कृतार्थ हुआ करते हैं।]

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता पुराणे वैष्णवे तु या।
सा चैवात्रात्मशक्तित्वे वर्णिता तत्त्वनिर्णये ॥

[विष्णु पुराणमें विष्णुकी पराशक्तिके विषयमें उल्लेख है। तत्त्व निर्णयके प्रसंगमें उसी शक्तिको भगवानकी स्वरूपशक्ति कहा गया है।]

ते ध्यान-योगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥
(श्वेताश्वतर १।३ मन्त्र)

एक शक्तिमान् देव काल और जीवके साथ स्वभाविक कारणोंको नियमित कर प्रकाश पा रहे हैं। ब्रह्मको जाननेवाले महात्माओंने उस स्वरूपभूता और अपने प्रभाव द्वारा संवृता शक्तिका ही ध्यान-योगसे निखिल कारणके रूपमें दर्शन किया था।]

मायाशक्तिके विषयमें कारिका—

अविद्याकर्मसंज्ञा या वैष्णवेह्यनुवर्ण्यते।
मायाख्यया च सा प्रोक्ता ह्याम्नायार्थविनिर्णये ॥

[विष्णु पुराणमें जिस "अविद्या कर्म संज्ञा" नामक शक्तिका उल्लेख है, वेदार्थ-तात्पर्य-निर्णयमें, वही 'माया' शक्ति कही गयी है।]

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि
भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्
तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः॥
(श्वे० उ० ४।८)

[अग्निष्टोम आदि यज्ञ, अश्वमेध आदि क्रतु, चान्द्रायण आदि व्रत, भूत और भविष्य आदि सब कुछ जिनका वर्णन वेद करते हैं, उन सबका माया-धीश पुरुष सृष्टि करते हैं। इस विश्वमें दूसरे जीव (भगवत्-विमुख) माया द्वारा बँधकर संसारमें भ्रमण करते हैं।]

क्षेत्रज्ञाख्या च या शक्तिः सा तटस्था निरूपिता।
जीवशक्तिरिति प्रोक्ता यया जीवाश्चनेकधा ॥

[विष्णु पुराणमें (६।७।६१) जिस "क्षेत्रज्ञा" नामक शक्तिका वर्णन है, उसे ही 'तटस्था' कहा गया है। उसे 'जीव-शक्ति' भी कहते हैं। उस शक्ति से आनन्त जीवोंकी उत्पत्ति हुई है।]

अजामेकां लोहित-शुक्ल कृष्णां
बहवीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्त - भोगामजोऽन्यः॥
(श्वे० ४।५)

[सत्त्व, रजः और तमोगुणात्मिका, अनेक प्रकार प्रजाओंकी जननीस्वरूपा, समानरूपा, एक अजा नामक प्रकृतिको अन्य एक अज पुरुष (जीव) सेवा करते करते भजन करते हैं। दूसरे अज पुरुष (परमात्मा) भुक्तभोगा उस प्रकृतिको त्याग करते हैं।]

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी—

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥(गीता ९।८)
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते ॥ (गीता ९।१०)

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृति-रष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥(गीता७।४।५)

[अपनी त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका (मायाका) आश्रय लेकर इस भूत-समुदायकी पुनः पुनः सृष्टि किया करता हूँ। इससे मेरा स्वरूप विकृत नहीं होता। हे अर्जुन ! मेरी शक्ति मेरी अध्यक्षतामें ही कार्य करती है। मैं अपनी इच्छा द्वारा प्रकृतिके प्रति कटाक्ष करता हूँ। इन कार्योंमें मेरी अध्यक्षता है। उसी कटाक्ष द्वारा चालित होकर प्रकृति ही चराचर जगत्को उत्पन्न करती है। इसलिये यह जगत् बार-बार प्रादुर्भूत होता है। अर्जुन ! मेरी अपरा प्रकृति भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार—इन आठ भागोंमें विभक्त है। मेरी इस अपरा प्रकृतिके अतिरिक्त एक और भी दूसरी परा प्रकृति है। यह परा प्रकृति चैतन्य रूपा और जीवभूता है। इसी शक्तिसे अनन्त जीवगण उत्पन्न होकर जगतको भोग्यरूपमें ग्रहण किये हुए हैं।

(क्रमशः)

भारतीय संस्कृतिकी रक्षाके लिये हिमालयकी पुकार

निखिल ब्रह्माण्डनायक सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्र लीला-पुरुषोत्तम भगवान्की लीला अपरम्पार है। लोकपितामह ब्रह्मा एवं शङ्कर भी जब उस लीला-रहस्यको जान नहीं पाते, तब साधारण बद्ध-जीवोंकी तो बात ही क्या है ? जगत्-सर्जन एवं जगत-संहार—इन परस्पर विरोधीसी प्रतीत होनेवाली दोनों ही लीलाओंका उद्देश्य एक ही है तथा दोनोंमें उनकी अनन्त कल्याण भावना ही निहित है। दैत्य-दानवोंका दमन और साधु-पुरुषों—देवताओंकी रक्षा—दोनों ही क्रियाओंके बाह्य रूपमें भेदकी प्रतीति होने पर भी उनका अन्तर्निहित उद्देश्य एक ही है। भगवान्के शरणागत भक्तजन ही उनकी लीला-रहस्यको समझ सकते हैं।

सृष्टिके प्रारम्भसे ही भगवदाश्रित देवताओं और भगवद् विमुख दुर्विनीत दानवोंका युद्ध चलता आ रहा है; जिसमें दानव सदा- सर्वदा पराजित होते आये हैं—यह एक वैदिक, पौराणिक एवं ऐतिहासिक सत्य है। साथ ही जब कभी भी देवगण भगवान्को भूले हैं, तभी वे दानवों द्वारा भयंकर दुर्दशाको प्राप्त हुए हैं—इसका भी हमारे शास्त्र साक्षी हैं। भगवदाश्रय-विहीन समाज, देश, राष्ट्र या व्यक्तिका पतन अवश्यभावी है; भले ही वह कुछ दिन अपनी बनावटी चमक दिखाकर अपने ही जैसे लोगोंमें अपनी धाक जमा ले।

इस भूमण्डल पर भारतका पुण्यमय देश आदिकालसे ही भगवान्की लीला-स्थली एवं दैवी सम्पत्ति सम्पन्न ब्रह्मज्ञ पुरुषोंकी तपोभूमि रहा है। उत्तरमें हिमाच्छादित हिमालयकी उत्तुङ्ग शिखर-श्रेणियाँ

मानो भारतकी आध्यात्मिक उन्नतिका पताका फहरा रहीं हैं, तथा अवशिष्ट तीनों ही दिशाओंमें शान्त-प्रशान्त एवं असीम अम्बुधि भारतकी क्षमा, शान्ति आदि दैवीगुण-गरिमाका गान करता हुआ उसके पैरोंका प्रक्षालन कर रहा है। भारतका बाह्यरूप जैसा मनोरम है, उसका आन्तर रूप उससे भी बढ़कर उज्ज्वल और सत्यं शिवं एवं सुन्दरम् है। जब अन्य देश अज्ञानान्धकारकी गहन निशामें असभ्यता एवं बर्बरताका जीवन बिता रहे थे, उस समय भी भारतके गगनमें तत्त्वज्ञान एवं सुसंस्कृतिका सूर्य प्रदीप्त था। सम्पूर्ण विश्वमें सभ्यता एवं संस्कृतिका विस्तार करनेका श्रेय भारतको ही है—ऐसा सभी मानते हैं। ऐसे भारतका मुख उज्ज्वल रखने तथा सिर ऊँचा उठाये रखनेमें प्राचीन ब्रह्मवेत्ताओंकी आध्यात्मिक सम्पत्ति, सभ्यता एवं संस्कृति ही मूल और एकमात्र कारण है। हमारी यह सुसम्पति ही हमारे अतीतमें गौरवशाली होनेका कारण है, अभी भी केवल इसीके कारण ही संसारमें हमारी ख्याति है और भविष्यमें भी वही भारतके गौरवशाली बने रहनेका कारण होगी।

दुर्भाग्यसे कुछ दिनोंसे भारतकी उक्त सम्पत्ति पर प्रहार-पर-प्रहार हो रहे हैं। परन्तु वर्तमान समयमें दैत्य-दानवोंके पथ पर चलनेवाले भगवद् विमुख बर्बर एवं विश्वासघाती चीनियोंका आक्रमण वास्तवमें बड़ा ही भयंकर है। यदि हम उनके आक्रमणको विफल कर अपनी उस सम्पत्तिकी—अपने पूर्वजोंकी पवित्र तपोभूमिकी रक्षा नहीं कर सके तो भारत ही नहीं, सारे सभ्य संसारके लिये इसका परिणाम बहुत ही खतरनाक होगा। यह शुभ लक्षण है कि पाश्चात्य देशोंने इस तथ्यको भलीभांति समझा है तथा सर्व प्रकारसे चीनी आक्रमणके विरुद्ध भारतकी सहायता कर रहे हैं। कुछ बर्बर चीनी-प्रकृतिके व्यक्तियोंको छोड़कर देशभरके सभी क्षेत्रोंमें सभी सम्प्रदाय एवं वर्गके लोग छोटे-मोटे भेदभावोंको भुला कर दानवी शक्तिसे टक्कर लेनेके लिये एक साथ प्रस्तुत हो गये हैं। ऐसी दशामें भारतवासियोंसे ही नहीं, संसारके समस्त सभ्य एवं दैवी सम्पदावाले सज्जनोंसे हमारा निवेदन है कि सभी मिलकर भगवदाश्रय ग्रहण कर दुर्विनीत एवं उच्छृंखल चीनी दानवोंको उनके कुकर्मोंका फल चखाकर सुपथपर चलनेके लिये बाध्य करें। आत्मदृष्टिसे देवता और दानव, भारतीय और चीनी—दोनों ही (संसारके प्राणीमात्र ही) भगवद्-अंश होनेके कारण भगवानके सेवक और परस्पर भाई-भाई हैं, फिर भी अपने ही विषाक्त अङ्गका आपरेशन या उसका कटवाना भी हितकारी ही होता है। सभी लोग युद्ध क्षेत्रमें नहीं जा सकते हैं; परन्तु अपने अपने क्षेत्रमें अपनी-अपनी योग्यता और अधिकारके अनुसार सभी अपना पूर्ण सहयोग दें। जहाँ धर्म है वहीं कृष्ण हैं और जहाँ कृष्ण हैं वहीं विजय है। अतः हमारी विजय सुनिश्चित है। हिमालय हमें अपनी संस्कृतिकी रक्षाके लिए पुकार रहा है।

-सम्पादक

———